बीमार मानस का गेह

मुसाफ़िर बैठा

बीमार मानस का गेह

कविता संग्रह

मुसाफ़िर बैठा

प्रकाशक: नॉटनल

प्रकाशन: जून, 2023

© *मुसाफ़िर बैठा*

खगेन्द्र ठाकुर (आलोचक) : किताब के बारे में

मुसाफिर बैठा संभावनाओं से भरे पूरे ताजा कवि हैं। यों उम्र से एकदम ताजा नहीं हैं। 'बीमार मानस का गेह' मुसाफिर का पहला कविता संग्रह है। संग्रह की कविताओं को पढ़कर महसूस होता है कि मुसाफिर का कवि कर्म अपने जीवन के अनुभवों से अनुप्रेरित है। यह कवि अपने जीवन के परिवेश को और अपने समाज को बड़ी तन्मयता से देखता है और इस देखने की जो प्रतिक्रिया होती है उसे अपनी चेतना की मदद से काव्यात्मक रूप देता है।

मुसाफिर दलित समुदाय का अंग है, इस नाते इस स्वानुभूति के आधार पर भी कविताएं लिखता है। दलित होने का दंश इस कवि को भी झेलना पड़ा है इसलिए स्वाभाविक है कि वह दलित चेतना को भी अपनी काव्य चेतना में शामिल करता है। ऐसी कविताओं में वह समाज में अस्पृश्यता अथवा सवर्ण-अवर्ण के भेद की अमानुषिकता पर बड़ी बेबाकी से चोट करता है। ऐसी कविताएं आमतौर से 'अभिधा' में लिखी गई हैं। अभिधा में कविता लिखना मुश्किल है लेकिन मुसाफिर ने उस मुश्किल को अपनी सहजता और सरलता से हल किया है। मुख्य बात यह है कि आज दलित स्थिति में जो परिवर्तन आया है, उसे भी कवि ध्यान में रखकर लिखता है इसलिए इस कवि की आवाज संजीदा है और कवित्व-विवेक से पूर्ण है।

'सुनो द्रोणाचार्य' में कभी लिखता है : 'लंगड़ा ही सही/ लोकतंत्र आ गया है अब/ जिसमें एकलव्यों के लिए भी पर्याप्त 'स्पेस' होगा/ मिल सकेगा अब जैसे को तैसा/ अंगूठे के बदले अंगूठा।'

यथार्थ के अद्यतन रूप को ग्रहण कर कवि ने कविता को आधुनिक ही नहीं, भविष्य का भी संकेत बना दिया है।

यथार्थ की गतिशीलता के प्रति मुसाफिर की जो तीक्ष्ण दृष्टि है, वह उसे 'भोगा हुआ यथार्थ' तक बांधकर नहीं रखता। अतः उसकी काव्य-दृष्टि विस्तृत है। कभी को मनुष्य और मनुष्यता से, मानवीय पुरुषार्थ से प्रेम है, इसलिए उसके मन में यह प्रश्न उठता है कि ईश्वर के रहते हुए भी समाज में अमानुषिक कार्यों का प्रसार क्यों हो रहा है? यह कवि मानवीय गुणों और कार्यों के आधार पर श्रेष्ठता का हिमायती है; वर्ण/जाति या धर्म के आधार पर नहीं।

मुसाफिर की कविताओं में दादी है, मां है, सामान्य स्त्री है, उसकी मर्यादा की चिंता है, कोसी-बाढ़ की व्यथा है; बिटिया की जन्म कथा है।

इस तरह व्यक्तिगत व्यथा से लेकर पारिवारिक, सामाजिक और मानवीय व्यथा तक मुसाफिर की कविताओं का विस्तार है, साथ गहरी संवेदनशीलता भी, लेकिन सादगी के साथ भाषा में गति और प्रवाह है।

***

आमुख : प्रेमकुमार मणि (कथाकार)

1970 के बाद के दशक उत्तरी भारत में सामाजिक क्रांति के दशक रहे हैं। इस बीच गांधी के 'हरिजन' अपनी रामनामी फेंक कर दलित बन गए और राजनीति से लेकर साहित्य तक में अपनी असरदार भागीदारी दी। दलित साहित्य की संज्ञा के साथ साहित्य का एक नया मिजाज सामने आया और जल्दी ही साहित्य की दुनिया में चर्चा का विषय बन गया।

मुसाफिर बैठा की कविताएं इसी दलित साहित्य का एक नया परत हमारे समक्ष उपस्थापित करती हैं। दलित साहित्य के बारे में प्रायः कहा जाता रहा है कि यह आक्रोश का साहित्य है और परंपराओं का उच्छेद करना इसकी पहली शर्त होती है। आक्रोश अपने पूरे अर्थ में यदि शुद्ध आवेग तक सीमित है तो संभवत: दलित साहित्य की सम्यक आलोचना नहीं निंदा होगी; और यदि आक्रोश में प्रतिरोध का भाव है तो दलित साहित्यकार इससे इनकार नहीं करेगा। दलित साहित्यकार जिंदगी और जगत को एक नए दृष्टिकोण से देखता है। फ्रांसीसी क्रांति से आए समानता, भाईचारा और आजादी के आदर्शों को वह बुद्ध की करुणा के साथ जोड़ना चाहता है और एक समानांतर परंपरा की नींव रखता या या विस्तार करता है। शायद, इसे ही लब्धप्रतिष्ठ हिंदी समालोचक नामवर सिंह 'दूसरी परंपरा' कहते हैं।

मुसाफिर बैठा पकठाये कवि नहीं हैं। इनकी कविताएं दूर्वा दल की तरह नाजुक और छोटी हैं जो जमीन से तो जरूर जुड़ी हैं लेकिन धाक जमाने की चुनौती नहीं देतीं,

अपितु अपनी गोद में आगंतुकों को आ बैठने का एक स्नेहिल आमंत्रण देती हैं। आज की दलित कविता का क्या मिजाज है और उसका क्षितिज कितना विस्तृत है इसका परिचय इन कविताओं से गुजरते हुए आपको मिल सकता है।

मुसाफिर बैठा क्रुद्ध आवेग के कवि नहीं हैं, आक्रोश भी बहुत कम ही है। लेकिन विचार अथवा दृष्टिकोण का एक सर्वथा भिन्न रूप आप यहां जरूर देख सकते हैं। यह इतिहास को देखने का दृष्टिकोण हो या फिर संबंधों को देखने का। ऐसी ही एक कविता है 'अछूत का इनार' जो हमें प्रेमचंद की कहानी 'ठाकुर का कुआं' की याद दिलाती है, लेकिन है एक भिन्न अर्थ में। दलित अस्मिता के प्रतीक के तौर पर मिहनत-मशक्कत से गढ़ा गया यह कुआं जिसकी जगत पर नागा बैठा का नाम खुदा है, आज चापाकल के इस जमाने में अप्रासंगिक हो गया है। (चापाकल के इस जमाने में/ अब अवशेष भर रह गया है इनार) गहरे उतरने पर यह कविता कई अर्थ संप्रेषित करती है। आधुनिक सरंजामों की इस दुनिया में पुरानी दुनिया के ये तमाम औजार अप्रासंगिक हो रहे हैं जिन्होंने मनुष्य और मनुष्य के बीच जो 'छुओ मत' जैसी दीवारें बनाई थीं और कई-कई जमातों में उन्हें बांटा था।

संग्रह की तमाम कविताएं पाठकों को नए विमर्श के लिए विवश करती हैं। आम अथवा गैर दलित कविताओं का पाठक थोड़ा निराश हो सकता है कि स्वेटर बुनती महिलाएं या बम फोड़ते युवाओं के मिलने की संभावना यहां कम है।

***

स्वगत : कवि का कहा

कविता मैंने स्कूली जीवन में ही लिखना शुरू कर दिया था। केन्द्रीय विद्यालय जवाहरनगर (सुतिहारा, सीतामढ़ी) में कक्षा नौ में पढ़ने के दौरान मैंने एक दफे अपने हिंदी शिक्षक नगेन्द्र झा के प्रस्ताव पर असाइंमेंट टास्क के रूप में कविताएँ लिखना स्वीकार किया था। और मुझे दस में दस अंक मिले थे। झा सर स्कूल के प्रार्थना स्थल पर इससे पहले मुझे अपनी स्वरचित कविता का पाठ करते देख चुके थे। जाहिर है, ये कविताएं बालमन से उपजी थीं और तुकांत थीं। लेकिन उस वक्त भी एक छात्र था जो विद्यालय के प्रार्थना स्थल पर अपनी जो कविताएं सुनाया करता था, वे कविताएँ अतुकांत होती थीं और भरसक ही हम छात्रों के पल्ले पड़ती थीं। मेरे भी पल्ले नहीं। वह छात्र गुरु गंभीर किस्म का प्राणी था, अपने में खोया रहने वाला और एकांत प्रिय। अफ़सोस, मुझ क्षीण स्मरणशक्ति वाले को उस कवि-छात्र का नाम याद नहीं। वह अभी मेरे हमउम्र अच्छा माने जाने वाले हिंदी कवियों में से एक हो सकता है। सन 1982 के दिनों में ही उसका अतुकांत-अबूझ कविता लिखना तब मेरे लिए पहेली थी, मगर आज जब आधुनिक अथवा नई अथवा समकालीन कविता के नाम से वैसी ही अबूझ अतुकांत कविता लिखने वालों की भरमार, उनकी स्वीकार्यता के आतंक से जब सामना होता है तो हद से हद हंसी आती है, मगर आतंकित नहीं होता मैं। तुकहीनता से आगे बढ़ अभी गद्य कविता का चलन भी है। मजेदार तो यह कि अतुकांत कविताओं की शिनाख्त तो सहज

ही संभव है, मगर कौन कवि प्रगतिशील है, कौन जनवादी, कौन वामपंथी और वामपंथी में भी मार्क्सवादी, इसकी शिनाख्त करना मुश्किल है और हिंदी आलोचना में इस शिनाख्त की न तो जरूरत महसूस की जा रही है और न ही कोई पद्धति प्रयोग में है। अजूबा तो यह है कि सारे कवियों की रचनाएं प्रगतिबोधक ही हैं, साफ़ दक्षिणपंथियों की भी!

मुझे लगता है कि कविता अभिधा में रची जाए या लक्षण-व्यंजना में, उसमें व्यर्थ की ऊहात्मकता एवं दूर की कौड़ी वाली सादृश्यता से बचा जाए। दुखद स्थिति यह है कि जिस तरह से राजनीति में फेंकुओं का बोलबाला है वही हाल कमोबेश समकालीन हिंदी कविता का है। कोई तबीयत से पत्थर उछाल कर आसमान में सूराख़ कर रहा है तो कोई बिना किसी प्रमाण के देश को सारे जहाँ से अच्छा बता रहा है। आप आसमान से तारे तोड़ कर लाते रहिये, उसमें सूराख बनाते रहिये, धरातल पर तो जाति-पांति एवं धर्म की बीमारी समाज को दिन ब दिन अधिक तोड़ते ही जा रही है, सामाजिक सौहार्द छितराता ही जा रहा है।

हिंदी कविता के आगाज से लेकर अबतक आप देख जाएं हिंदी साहित्य में जिन कविताओं को केन्द्रीयता मिली है वे प्रायः सवर्णकृत हैं और उनमें सवर्णों के काइयांपन और दलित विरोधी करतूतों पर भरसक ही बात होती है। कबीर जैसे कवि अपवाद ही हैं। आप देखेंगे कि जिस काल में तुलसी प्रायः अभिधा में समय की धार्मिक चाल की हद में रहकर धार्मिक भ्रमों को अपनी रचनाओं के माध्यम से गति दे रहे थे वहीं उनके समकालीन कबीर और रैदास धार्मिक अंधविश्वासों एवं कुरीतियों पर प्रहार करने

वाली तुकांत मगर लक्षणा एवं व्यंजना में कविता लिख रहे थे। यह अन्यथा नहीं है कि सवर्ण तबके से बनने वाला हिंदी साहित्य का प्रगतिशील हलका अब भी तुलसी के बिना नहीं जी सकता। जबकि मेरा मानना है कि तुलसी के काव्य में अपनी भक्ति अर्पित करते हुए काव्य सौन्दर्य की प्रशंसा में रत होना बलात्कार के सौंदर्यशास्त्र की वकालत करने जैसा है। आप हिंदी काव्य की परम्परा की बात करते हुए तुलसी आदि ब्राह्मणवादी कवि का संदर्भ ले सकते हैं लेकिन उनकी वीरगाथा नहीं प्रस्तुत कर सकते।

हर दलित कवि की तरह मेरा प्रथम पसंदीदा एवं प्रेरक कवि कबीर है। वह कबीर जिसके लिखे पर मतैक्य नहीं है और जिसके नाम पर वैसी रचनाएँ भी चल रही हैं जो उनके केन्द्रीय एवं क्रान्तिचेता चरित्र के साफ़ विरोध में जाती हैं। ऐसी चीजों को ब्राह्मण अथवा कूढ़मग्ज़ भक्त प्रणीत माना जाना चाहिए। धार्मिक मिथ्याचार एवं जातीय/ ब्राह्मणी सोच पर जो हमला कबीर 6 सौ साल पहले कर गए उसे टक्कर देने वाला प्रगतिशील से प्रगतिशील आज तक कोई सवर्ण क्यों नहीं पैदा हुआ?

हिंदी की केन्द्रीय मानी जाने वाली साहित्यधारा में वरण तो प्रगतिशीलता का है मगर यहाँ जो द्विजकुल जनमा कवि अलग ऊंचा वैचारिक पादान पर दीखता है, वह भी दलित एवं सवर्ण प्रश्नों से प्रायः बचकर ही बात करता है, जबकि समाज अभी जातीय द्वंद्व एवं विद्वेष के सघन घटाटोप से गुजर रहा है। उनके लिए ये सवाल प्रगतिशील चिंतन के दायरे से अलग हो जैसे। हर किसी का कबीरी होना समय की मांग है। आज का कवि यदि जाति और धर्म के सवालों से भागता है तो वह नकारात्मक रूप से राजनीतिक है। आप यदि समाज से सही संलग्नता रखते हैं, समय-समाज के ज़रूरी सवालों से टकराने

एवं समाज में प्रेम रोपने के आग्रही हैं तो आप पीक & चूज नहीं कर सकते, धर्म एवं जाति की खुरदुरी उपस्थिति को नजरंदाज नहीं कर सकते। इस लड़ाई से गुजरकर ही वृहतर प्रेम और सौहार्द को पाया जा सकता है।

मैंने ऊपर जो बातें रखीं उन्हें मेरी रचना प्रक्रिया का हिस्सा माना जाए। इन कविताओं के पाठक-आलोचक को मैं अपने वक्तव्य की यह कुंजी सौंपे जा रहा हूँ!

***

(पुस्तक समर्पण)

माँ

और

बड़े भैया

के

लिए

अनुक्रम

भ्रम की टाटी सबै उड़ाणी (पेज सेपरेटर के लिए ये चारों पंक्तियाँ हैं)

मेरी देह बीमार मानस का गेह है 15

बुद्ध फिर मुस्कुराए 19

सुनो द्रोणाचार्य 22

सुनो सरस्वती 25

चमत्कार 28

भक्त अनुकूलन 29

ईश्वर बनाम मनुष्यता 31

ईश्वर के रहते भी 34

फिर भी आधुनिक 37

खल साहित्यिकों का छलवृत्तांत 41

ऊंचे कुल क्या जनमियां (सेपरेटर)

आरक्षण बनाम आरक्षण 44

ईश मोर्चे पर औकात 45

संस्कार महिमा 47

संस्कारी वामपंथी 48

नाम-सुख 50

दादा का लगाया नींबू पेड़ 52

अछूत का इनार 55

हिरदा भीतरि आरसी (सेपरेटर)

ऐंग्री यंग मैन हंग्री ओल्ड मैन 67

राम और सलमान खान 69

कुत्तजन्दगी 71

मति का फेर 73

गिरवी दर गिरवी 75

गाली 77

स्त्री देह का उत्सव 79

प्रियजन 83

सामान्यजन 86

कोसी आंचल में बाढ़ : वर्ष 2008 88

मन के भींगल कोर (सेपरेटर)

पिता की निर्ब्याज याद	97
मां की आंखों में पिता	100
बिटिया की जन्म कथा	108
प्रेम की पेंगें बढ़ाती लड़की	112
पचीस साल पुराने स्वेटर के बारे में	115
बुढ़ाते बालों के पक्ष में	123
बड़े भाई साहब की लिखने की पाटी	130
मौतों से उपजी मौत	133
अरर मरर के झोपरा	135
अपना शहर एक सुबह असहज	140